हिन्दी में कवर ड्राइव

भूमंडलीकरण के दौर में युयुत्सु क्रिकेटीय राष्ट्रवाद

अभय कुमार दुबे

नगाड़े बजाइये, शंख फूँकिये और जय-जयकार कीजिये। फिर अपने
निजी और सामूहिक धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाइये
और उसकी टंकार से दिग-दिगंत गुँजा दीजिये।

— प्रभाष जोशी

खेल से हर क़ीमत पर दुर्भाव पैदा होता है और उसका ईमानदारी से
कोई ताल्लुक़ नहीं है। उसमें घृणा, ईर्ष्या, शेख़ीख़ोरी, हर नियम
की उपेक्षा और हिंसा को देखने में परपीड़क जैसा सुख भरा
हुआ है। खेल गोलीबारी से रहित युद्ध ही है।

— जॉर्ज ऑरवेल

1.

पहले कवर ड्राइव हिन्दी में नहीं सिर्फ़ अंग्रेज़ी में लगा करता था। जब रेडियो ने 1933 में पहली बार क्रिकेट मैचों का आँखों देखा हाल सुनाना शुरु किया तो हिन्दी या अन्य किसी भारतीय भाषा की कमेंटरी का दूर-दूर तक पता नहीं था। इसके साल भर पहले ही भारत ने अपना पहला टेस्ट मैच खेला था। चालीस और पचास के दशक तक यही चलता रहा। टेस्ट मैच होते रहे और क्रिकेट का समाजशास्त्र भी उसी मंद और अनिर्णय की शिकार गति से आगे बढ़ता रहा। साठ के दशक में जब पहली बार हिन्दी में कवर ड्राइव लगा तो गेंद इतनी तेज़ी के साथ बाउंडरी की तरफ़ भागी कि देखते-देखते सिर्फ़ तीस साल में उसे पार करके सीएलआर जेम्स की भाषा में 'बाउंडरी के परे' किसी अज्ञात स्पेस में चली गयी। उस गेंद को क्षेत्ररक्षक खिलाड़ी आज तक ढूँढ कर नहीं ला पाये हैं। अस्सी के दशक में आशीष नंदी ने काफ़ी कोशिश की कि वे सामाजिक और व्यक्तिगत मनोविज्ञान के आतिशी शीशे से उसे खोज निकालें। लेकिन इससे पहले कि वे क्रिकेट को अंग्रेज़ों द्वारा खोजे गये एक भारतीय खेल के

रूप में स्थापित कर पाते और इससे पहले कि यह खेल उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ सांस्कृतिक प्रतिरोध के एक माध्यम के रूप में चिन्हित हो पाता, नब्बे के दशक में हिन्दी पत्रकारिता और टेलीविज़न के उपग्रही चैनलों ने सूचना दी कि यह गेंद नवोदित भारतीय राष्ट्रवाद के उग्र दायरों में पड़ी हुई है और जिन लोगों को असल में उसे वापस खेल के मैदान में लाने की ज़िम्मेदारी निभानी चाहिये थी वे उसे दृढ़तापूर्वक वहीं रखने पर आमादा हैं, भले ही उससे अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी का ही स्वार्थ क्यों न सिद्ध हो रहा हो।

क्रिकेट का सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक-सामाजिक आख्यान लिखने वाले ट्रॉट्स्कीवादी चिंतक सीएलआर जेम्स ने कैरिबियन संदर्भों में कहा था कि वेस्ट इंडीज़ के बल्लेबाज़ों ने क्रिकेट के सौंदर्यशास्त्र में ड्राइव के बजाय कट को स्थापित करके उन दास मालिकों की परियोजना को भीतर से उलट दिया जो अपने पूर्व गुलामों पर क्रिकेट के ज़रिये औपनिवेशिक संस्कृति का ठप्पा लगाना चाहती थी। ड्राइव बल्ले के ऊपर से नीचे आते हुए प्रवाहपूर्ण अर्धवृत्ताकार प्रहार के लिए जाना जाता है। अच्छा ड्राइव वह होता है जिसमें बल्ला गेंद को हिट करने के बाद भी वृत्त को पूरा करते हुए बल्लेबाज़ के दूसरे कंधे के ऊपर से वापसी में निकल जाये। जबकि कट क्षैतिज बल्ले से खेला जाता है। वह एक आघात की तरह है और उसमें बल्ले की अधूरी वापसी ही होती है। जेम्स ने जो भी समझ कर लिखा हो, लेकिन ड्राइव एक तरह से स्तंभीय संरचना है और कट क्षैतिज। समाज विज्ञान की दुनिया में स्तंभीय संरचनाएँ आमतौर पर ऊँच-नीच की और क्षैतिज संरचनाएँ अपेक्षाकृत समतामूलक प्रवृत्तियों की वाहक मानी जाती हैं। इस लिहाज़ से हिन्दी में कवर ड्राइव का रूपक एक विशेष तात्पर्य से संपन्न हो कर सामने आता है।

मेरे लिए इस रूपक का जन्म कैसे हुआ, इसकी एक छोटी-सी कहानी है। क़रीब पाँच साल पहले हिन्दी के विख्यात कवि विष्णु खरे को विट्ठलभाई पटेल हाउस के सभागार में रघुवीर सहाय पुरस्कार दिया जा रहा था। वहाँ उपस्थित कवियों, लेखकों और अन्य साहित्यकारों ने ताज्जुब से देखा कि खरे अपने साथ एक बल्ला ले कर आये हैं। जब वे अपनी कविताओं का पाठ करने लगे तो बीच में उन्होंने बताया कि अपनी कविता 'कवर ड्राइव' का पाठ करने से पहले वे उपस्थित श्रोताओं के सामने क्रिकेट के इस स्ट्रोक का प्रदर्शन करना चाहेंगे। विष्णु खरे का ख़याल था कि जब तक कवर ड्राइव की सौंदर्यानुभूति से श्रोताओं की सीधी वाक़फ़ियत नहीं होगी तब तक वे कविता का पूरा आनंद नहीं उठा पायेंगे। इसके बाद खरे मंच से उतरे और उन्होंने कवर ड्राइव मार कर दिखाया और उस ख़ास तरह के शारीरिक संतुलन और प्रवाह की व्याख्या की जो इस स्ट्रोक के लिये ज़रूरी होता है। विष्णु खरे की क्रिकेट संबंधी कविताएँ 'स्कोर बुक', 'कवर ड्राइव' और 'सिंगल विकेट सीरीज' हिन्दी साहित्य की अनूठी उपलब्धि हैं। 'सिंगल विकेट सीरीज' मुझे विशेष तौर पर प्रिय है। शिल्प के स्तर मुझे हर बार इसके ज़रिये पास्तरनाक की कविता 'दोबारा वसंत' की याद आ जाती है। हिन्दी पत्रकारिता और टीवी द्वारा खेल पर आरोपित युयुत्सा के विपरीत यह कविता बताती है कि क्रिकेट का कभी ऐसी भद्र दुनिया से भी ताल्लुक़ हुआ करता था जिसमें आप अपने विपक्षी को अपने मानस का ही एक अंग मान सकते थे। वह आपके कंधे पर आश्वस्तिदायक हाथ रख सकता था और आप कह सकते थेः वेल बोल्ड सर!

हिन्दी कविता में क्रिकेट के प्रवेश का यह अनायास उत्सव जिन दिनों हो रहा था तक़रीबन उन्हीं दिनों हिन्दी के ज़रिये क्रिकेटीय राष्ट्रवाद की इबारत बन रही थी। इसमें पाकिस्तान विरोध, खेल के ज़रिये हिंसा, कारगिल युद्ध, मैदान में होने वाले रक्तपात, हिसाब चुकाने, बदला लेने, पीट देने, ठोक डालने, रौंद देने, सरफ़रोशी और क़यामत की छवियों को सीधी अभिव्यक्ति देने वाली शब्दावली का खुल कर इस्तेमाल हो रहा था। युद्ध और क्रिकेट के खेल का सीधा संबंध स्थापित हो चुका था। फ़ुटबॉल के संदर्भ में ऑरवेल ने बिना गोलाबारी के जिस युद्ध के रूप में आधुनिक खेलों की आलोचना की थी, भारतीय उपमहाद्वीप और यहाँ खेले जाने वाले क्रिकेट के संदर्भ में उनका कथन कहीं ज़्यादा साकार होता हुआ लग रहा था। ख़ास बात यह है कि इस परिघटना के वाहक कोई संघ परिवार के बुद्धिजीवी या पैरोकार ही नहीं थे, इसमें क्रिकेट के सामान्य प्रेमियों से लेकर निष्पक्ष समझे जाने वाले पत्रकारों के लेखों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा बनाये गये टीवी प्रसारण के पैकेजों की भी स्पष्ट भूमिका थी। हिन्दी के प्रतिष्ठित दैनिक समाचार पत्र *जनसत्ता* के कॉलम और उनमें नियमित रूप से छपने वाले उसके प्रधान संपादक प्रभाष जोशी (संप्रति सलाहकार संपादक) के लेखों, समीक्षाओं, भावोद्गारों, संस्मरणों और रपटों को इस सिलसिले में एक प्रतिनिधि

मिसाल के तौर पर लिया जा सकता है। दूसरी मिसाल के रूप में ईएसपीएन पर हिन्दी के क्रिकेट प्रसारण पर नज़र दौड़ाई जा सकती है।

जनसत्ता के संस्थापक-संपादक के रूप में प्रभाष जोशी को श्रेय जाता है कि उन्होंने अस्सी के दशक की शुरुआत में एक नये अख़बार को परिकल्पित करते हुए राष्ट्रीय जीवन में खेल-कूद के महत्त्व का ध्यान रखा, वरना पहले होता यह था कि हिन्दी पत्रकारिता में खेल पक्ष को ग़ैर-गंभीर समझा जाता था। अज्ञेय ने *दिनमान* की कल्पना करते समय खेल के साथ ऐसा ही सुलूक किया था और अपने ऊपर शोध करने वाले एक छात्र (योगराज थानी) को खेल डेस्क का इंचार्ज बना कर हिन्दी में खेल पत्रकारिता के भविष्य पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया था। हिन्दी पत्रकारिता पर साहित्यकारों के हावी होने के कुछ दुष्परिणामों में से एक यह भी था। ये साहित्यकार-संपादक हिन्दी पत्रकारिता को एक अलग और स्वतंत्र विधा के रूप में विकसित नहीं कर पाये। पत्रकारिता से अपनी रोज़ी कमाने वाले साहित्यकारों ने उसे हमेशा दोयम दर्जे का काम समझा। इसके विपरीत प्रभाष जोशी ने सक्षम खेल पत्रकारों को चुनकर *जनसत्ता* की मज़बूत खेल डेस्क बनायी और उन्हें वाहन भत्ता दे कर हिन्दी में स्वतंत्र खेल रिपोर्टिंग की नींव डाली। उन्होंने दैनंदिन खेल पृष्ठ के साथ-साथ हफ़्ते में एक पन्ने का खेल-परिशिष्ट भी शुरु किया। ख़ुद भी बड़े पैमाने पर क्रिकेट और टेनिस पर लेखन किया और दूसरों को भी प्रोत्साहित किया। विश्व कप की रिपोर्टिंग के लिए विदेश यात्राओं पर गये। इससे पहले हिन्दी पत्रकारिता में यह सब नहीं होता था। वे एशियाड और ओलंपिक में भारतीयों के न जीत पाने की समस्या से भी जूझे और एक दिलचस्प सवाल उठाया कि भोजन और मैथुन के अलावा पसीने-पसीने हो कर उछलने-कूदने के शारीरिक आनंद को भारतीय मानस मान्यता क्यों नहीं देता? ज़ाहिर है कि उनके इस सवाल के एक पहलू में शारीरिक व्यायाम की संस्कृति स्थापित करने का वह आग्रह छिपा हुआ लगता था जो पश्चिमी उपनिवेशवाद अक्सर पूर्वी समाजों पर आरोपित करने की कोशिश करता रहा है। वियतनाम, कोरिया, मलेशिया, जापान, सिंगापुर और फ़िलिस्तीन को लेकर किये गये अध्ययन इसके गवाह हैं। लेकिन प्रभाष जोशी ने भारतीय संस्कृति के भीतर मौजूद शारीरिक व्यायाम की संस्कृति के सुप्त रूपों की तरफ़ भी इशारा किया और यह माना कि राजनीतिक पराजयों और समाज के वर्णवादी विभाजनों के कारण संभवतः भारतीयों की रुचि इहलोक के बजाय परलोक में ज़्यादा होती चली गयी। कुल मिलाकर खेलों के बहाने उनकी यह टिप्पणी भारतीय सभ्यता की सांस्कृतिक आलोचना ही थी। कहने का तात्पर्य यह है कि उनके और उनके अख़बार से ज़्यादा खेलप्रेमी हिन्दी पत्रकारिता में कोई दूसरा आज तक नहीं हुआ। खेलों (ख़ासकर क्रिकेट) के प्रति अपनी निजी दीवानगी की वे अनगिनत बार *जनसत्ता* के पाठकों को जानकारी दे चुके हैं। जितनी उत्कटता से वे आतंकवाद और सांप्रदायिकता पर लिखते हैं, उतनी ही शिद्दत के साथ वे खेलों पर भी क़लम चलाते हैं। उनके इस लेखन के प्रशंसकों की संख्या बहुत है और यह भी माना जाता है कि उन्होंने क्रिकेट और टेनिस पर लेखन के ज़रिये एक नवीन हिन्दी मुहावरा विकसित किया।

'जनसत्ता' और प्रभाष जोशी के उदाहरण को चुनने से क्रिकेटीय राष्ट्रवाद की ताक़त और उसके गहन अर्थों का खुलासा ज़्यादा आसानी से हो सकता है क्योंकि यह अख़बार हिन्दी पत्रकारिता में सबसे गंभीर, राजनीति-उन्मुख और व्यवस्था विरोधी माना जाता है। इसमें छपने वाले विचार-साहित्य में आधुनिक पूँजीवाद के भूमंडलीय रूपों की मुखर आलोचना होती है, बार-बार गाँधीवाद का हवाला दिया जाता है और संघ परिवार के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को आपत्तिजनक बता कर आड़े हाथों लिया जाता है। देखने की बात यह है कि खेलों से निर्मल आनंद की अपेक्षा रखने वाले हिन्दी के सर्वाधिक प्रतिष्ठित और वरिष्ठ पत्रकार के क्रिकेट, ख़ासकर भारत-पाक की होड़ पर नब्बे के दशक के लेखन में बदला, खुंदक, हिसाब चुकाने और युद्ध की वही हाहाकारी ध्वनियाँ कहाँ से उभरीं जिन्हें रूपर्ट मरडॉक के स्पोर्ट्स चैनल ईएसपीएन ने विशुद्ध मुनाफ़ा कमाने के लिए टीवी दर्शकों के सामने परोसा। क्रिकेटीय राष्ट्रवाद पर विचार करते समय बहुराष्ट्रीय कंपनियों और उपभोक्ता क्रांति की भूमिका पर विचार करना भी ज़रूरी हो जाता है। समकालीन भारतीय समाज में अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी के इन वर्चस्व-वाहकों ने क्रिकेट के खेल को कामनाओं के व्यापार से कुछ इस तरह जोड़ दिया है कि उग्र राष्ट्रवाद अपने धनकुबेर प्रायोजकों की अस्मिता के साथ एकाकार हो कर वक़्त का स्वाभाविक मुहावरा ही बन गया है।

2.

क्रिकेट: उत्तर-औपनिवेशिक राष्ट्रवाद

क्रिकेट की विकसित होती हुई सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक भूमिका पर निगाह रखने वाले लगभग सभी समीक्षक कम से कम निम्नलिखित बातों पर सहमत हैं:

>> क्रिकेट का आनंद पूरी तरह उठाने के लिए ज़रूरी है कि आप क्रिकेट के बारे में ही नहीं, उसके अलावा भी कुछ जानते हों। विख्यात क्रिकेटविज्ञ नेविल कार्डस के इस कथन पर आधारित मान्यता इस खेल को उसकी तकनीकी और ऐंद्रिक अनुभूतियों के दायरे से निकाल कर एक अधिक व्यापक सामाजिक धरातल पर ले जाती है।

>> आशीष नंदी इसमें दूसरी मान्यता जोड़ते हैं कि क्रिकेट एक ऐसा खेल है जो अपने नैसर्गिक चरित्र के बारे में कम और अपने व्याख्याता के बारे में ज़्यादा जानकारी देता है। मनोविज्ञान की भाषा में नंदी इसे प्रोजेक्टिव टेस्ट कहते हैं। उनके अनुसार क्रिकेट ने उपनिवेशवाद के शिकार समाजों को मौक़ा दिया कि वे उपनिवेशवादियों को उन्हीं के मूल्यों की कसौटी पर कस कर देखें। और जब इन समाजों ने देखा कि औपनिवेशिक प्रभु इस परीक्षा में खरे नहीं उतर पा रहे हैं तो क्रिकेट ने सांस्कृतिक वर्चस्व का वाहक बनने के बजाय सांस्कृतिक प्रतिरोध के माध्यम की भूमिका ग्रहण कर ली।

>> नेविल कार्डस और नंदी की धारणाओं से नतीजा निकाला जा सकता है कि इस तरह के राष्ट्रवाद की प्रमुख अभिव्यक्ति की तरह क्रिकेट में उभरने की संभावनाएँ पैदा हुई होंगी। इसी तर्ज़ पर अर्जुन अप्पादुरै क्रिकेट को भूमंडलीकरण की सांस्कृतिक समीक्षा का प्रभावी माध्यम मानते हुए निष्कर्ष निकालते हैं कि भारतीय संदर्भों में देशी भाषाओं से उसकी अन्योन्यक्रिया होते ही यानी बहुभाषी होते हुए ही यह औपनिवेशिक विरासत नहीं रह गया। आगे चलकर यह खेल एक ऐसे राष्ट्रवाद का वाहक बना जो बहुराष्ट्रीय तमाशों और कामनाओं पर आधारित समाज के बाज़ारीकरण के लिए जनमानस तैयार करता है। वे इसे 'राष्ट्रवाद के कामशास्त्र' की संज्ञा देते हैं।

इन सारगर्भित प्रेक्षणों में यदि आधुनिक खेलों के बारे में एरिक हॉब्सबॉम का यह कथन जोड़ दिया जाये कि खेल राष्ट्रीय अस्मिताओं के वाहक होते हैं और आधुनिक राष्ट्रों की आक्रामकता उनके ज़रिये अभिव्यक्त होती है तो क्रिकेटीय राष्ट्रवाद के भारतीय आख्यान की आधारशिला पड़ते हुए देखी जा सकती है। इन मान्यताओं को क्रिकेट, राष्ट्रवाद, भूमंडलीकरण और भारतीय भाषाओं के अंतर्संबंध पर लागू करते ही तस्वीर साफ़ होने लगती है। इस बात के सुराग़ मिलने लगते हैं कि क्रिकेट को युद्ध का रूपक कैसे मिला। जो खेल भद्रता का प्रतिरूप माना जाता था और जिसे उपनिवेशवादियों ने भारतीयों को विक्टोरियाई क़िस्म की संयमित आक्रामकता का पाठ पढ़ाने के लिए सिखाया था वह पाकिस्तान-विरोध पर आधारित उग्र राष्ट्रवाद का वाहक कैसे बन गया?

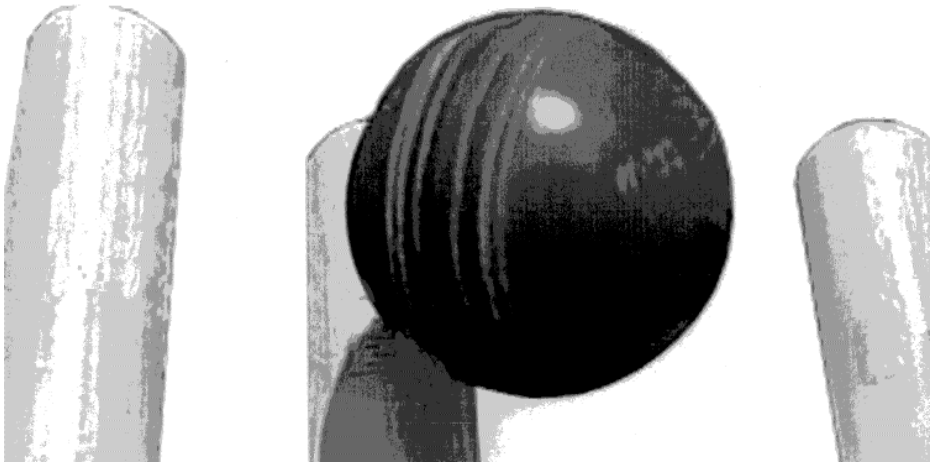

क्रिकेट का इतिहास बताता है कि उसके पास राष्ट्रवाद की ऐसी विरासत नहीं है जो आज़ादी के पहले से चली आ रही है। अंग्रेज़ों के ज़माने में भारतीय क्रिकेट ने ऐसा कोई कारनामा नहीं किया जो उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में कोई नया अध्याय जोड़ता हो। क्रिकेट के पास मोहन बागान की तरह राष्ट्रवाद का गौरव समझा जाने वाला कोई क्लब नहीं रहा। 1911 में ही बागान की नंगे पैर खेलने वाली एक टीम ने ईस्ट यॉर्कशायर रेजीमेंट की टीम को आईएफ़ए शील्ड के मैच में पराजित करके एक राष्ट्रवादी गौरवगाथा लिख डाली थी। इसके उलट क्रिकेट में भारतीयता का प्रवेश राष्ट्रीय आंदोलन के दायरों और कांग्रेस के प्रभाव से अलग पर्यावरण में हुआ। कांग्रेस के क्रिकेट से ताल्लुक़ के कुछ कमज़ोर से उदाहरण ही मिलते हैं। मसलन, कैसे आज के क्रिकेट-प्रशासक राजनेता एनकेपी साल्वे बचपन में अंग्रेज़ खिलाड़ियों के इस्तेमाल के लिए बनायी गयी पिच पर खेलने से किसी मिस्टर थॉमस द्वारा वंचित किये गये और कैसे उनके स्वतंत्रता सेनानी पिता ने हस्तक्षेप करके उन्हें उस पिच पर खेलने का अधिकार दिलाया। बहरहाल, क्रिकेट का स्वतंत्रता आंदोलन से कोई उल्लेखनीय संबंध कभी नहीं बन पाया। पुराने स्वतंत्रता सेनानी, गाँधीवादी और समाजवादी हमेशा क्रिकेट को व्यंग्य और उपेक्षा के साथ औपनिवेशिक अवशेष के रूप में ही देखते रहे। इन महानुभावों ने कभी नहीं माना कि भारतीयता के विकास का राष्ट्रवाद से भिन्न दायरा भी हो सकता है। क्रिकेटीय भारतीयता का विकास खेल के तकनीकी दायरों में ही होता रहा। वह भारतीयता सीके नायडू और मुश्ताक़ अली जैसे मध्यवर्ग के पुत्रों, लाला अमरनाथ और डीडी हिंडालकर जैसे खेतिहर-वंशजों, अमीर इलाही जैसे क़साई जाति के पिता की संतान और बालू पलवनकर जैसे दलित समाज के पुत्रों की खाँटी शैली की देन थी। इस भारतीयता का पहला प्रामाणिक विस्फोट आर्थर गिलगिन की एमसीसी टीम के मुक़ाबले नायडू के धुँआधार 153 रनों के ज़रिये हुआ।

अंग्रेज़ों के ज़माने में भारतीय क्रिकेट सामुदायिक, धार्मिक और जातीय आधार पर गठित क्लबों के बीच खेली जाती थी और उसे प्रायोजित करने वालों में देशी रियासतों की प्रमुखता थी। अंग्रेज़ों द्वारा प्रोत्साहित यह जातीय आधार उनके अपने क्रिकेट के सांगठनिक आधार से भिन्न था। इंग्लैंड का क्रिकेट 'कंट्री' और 'काउंटी' से बनने वाले आधुनिक राष्ट्र से जुड़ा हुआ था। आज़ादी ने भारतीय क्रिकेट के इस परिदृश्य को बदल दिया। क्रिकेट की नयी सांगठनिक संरचना ख़ासी राष्ट्रवादी क़िस्म की बनी। प्रांतीय बोर्डों का गठन, रणजी ट्रॉफ़ी के रूप में राष्ट्रीय चैंपियनशिप का प्रारंभ, ज़ोनल चैंपियनशिप के रूप में दिलीप ट्रॉफ़ी की शुरुआत और इस पूरे कार्य-व्यापार को नियंत्रित करने वाला एक क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड। यूँ तो क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड स्वायत्त थे लेकिन भारतीय राज्य ने क्रिकेट के विकास में सीधी दिलचस्पी ली। पब्लिक सेक्टर के स्टेट बैंक जैसे संस्थानों ने खिलाड़ियों को नौकरी दे कर प्रायोजित किया। निजी क्षेत्र भी इसी तर्ज़ पर आगे आया। उस ज़माने का निजी क्षेत्र सरकारी पूँजी पर निर्भर था और उसका चरित्र काफ़ी हद तक आज़ादी के पहले कांग्रेस को समर्थन करने वाले निजी क्षेत्र की तर्ज़ पर राष्ट्रीय बना हुआ था। क्रिकेट को लोकप्रिय जन-आयाम सत्तर के दशक में मिला जब भारत की टीम ने अपनी स्पिन चौकड़ी और गावस्कर की बल्लेबाज़ी के दम पर इंग्लैंड और वेस्ट इंडीज़ को उसकी धरती पर पराजित करके दिखाया। रेडियो ने हिन्दी की क्रिकेट कमेंटरी के माध्यम से इन जीतों का दूर-दूर तक प्रसार किया। इस बुनियाद पर उत्तर-औपनिवेशिक राष्ट्रवाद के क्रिकेटीय पहलू की इमारत खड़ी की जा सकती थी। सत्तर तक आर्थिक राष्ट्रवाद का उत्तर-औपनिवेशिक विकास हो चुका था और उत्तर-औपनिवेशिक अवधि में राष्ट्रवाद की दूसरी क़िस्म के अंकुर फूटने वाले थे। क्रिकेट की पराजय को राष्ट्रीय पराजय मानने की पहली मिसाल तब सामने आयी जब इंग्लैंड और वेस्ट इंडीज़ को हराने वाली टीम इंग्लैंड से ही बुरी तरह हार कर लौटी। क्रिकेट प्रेमियों ने गुस्से में आकर विजय का वह स्मारक तोड़ डाला जो उन्होंने इसी टीम के कारनामों के उपलक्ष्य में बनाया था।

यह कहा जा सकता है कि क्रिकेट में राष्ट्रीयता पर उग्रवाद और ख़ासकर पाकिस्तान-विरोधी राष्ट्रीयता काफ़ी देर से हावी हुई। 1965 में भारत-पाकिस्तान की फ़ौजें जब सीमा पर एक दूसरे के ख़िलाफ़ संघर्ष में उतरीं तो भारतीय टीम के कप्तान मंसूर अली ख़ाँ पटौदी और पाकिस्तानी टीम के कप्तान हनीफ़ मोहम्मद इंग्लैंड के ख़िलाफ़ यॉर्कशायर काउंटी में स्केयरबरो के मैदान में शेष विश्व की टीम की तरफ़ से खेल रहे थे।

अपने-अपने देशों में क्रिकेट के प्रतीक इन दोनों खिलाड़ियों ने दोनों सरकारों को एक संयुक्त टेलीग्राम भेजाः 'हमें भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध छिड़ने का गहरा अफ़सोस है। (पर) क्रिकेट के मैदान पर एक मुश्तरका मक़सद हासिल करने के लिए हम एक हैं। हमें तहे दिल से उम्मीद है कि आप भी आपस में मिल कर एक दोस्ताना हल ढूँढ लेंगे।' ज़ाहिर है कि आज के क्रिकेटीय राष्ट्रवाद के माहौल में भारत और पाकिस्तान के खिलाड़ी मिलकर ऐसी कोई अपील नहीं कर सकते। आज तो कपिल देव, अजय जडेजा और कीर्ति आज़ाद जैसे खिलाड़ी बाल ठाकरे के साथ क़दम मिलाते हुए भारत-पाक क्रिकेट संबंधों को स्थगित कर देने के पैरोकार बने हुए हैं।

टेस्ट क्रिकेट जब तक खेल का एकमात्र अंतर्राष्ट्रीय रूप बना रहा, क्रिकेट से राष्ट्रीय भावनाएँ आत्यंतिक रूप से नहीं जुड़ पायीं। टेस्ट क्रिकेट की संरचना में विजय एकमात्र मूल्य के रूप में कभी स्थापित नहीं रही। जीत और हार के साथ-साथ अनिर्णीत रहने की अधिक संभावना रहना टेस्ट मैच की ख़ास विशेषता मानी जाती थी। क्रिकेट के बुद्धिजीवियों ने खेल के इस पहलू के प्रति कभी शर्म या संकोच का प्रदर्शन नहीं किया बल्कि वे हमेशा इसे बनाये रखने पर बल देते रहे। फुटबॉल के विपरीत टेस्ट धीमी गति से, भद्रता के साथ और खिलाड़ियों के शारीरिक संपर्क के बिना अक्सर बिना किसी फ़ैसले के पाँच दिन तक चलते रहते थे। इस तरह के खेल की कोई विश्व चैंपियनशिप भी नहीं हो सकती थी (आज भी अंतर्राष्ट्रीय क्रिकेट परिषद {आईसीसी} द्वारा आयोजित टेस्ट चैंपियनशिप को एक हास्यास्पद तमाशा ही माना जाता है)। इसके उलट आर-पार फ़ैसला कर देने वाले फुटबॉल मैच में खिलाड़ी आपस में शरीरिक रूप से भिड़ते हुए युद्ध जैसा माहौल पैदा कर सकते थे। इसीलिए इंग्लैंड का क्रिकेट कभी आयरलैंड से युद्ध के प्रतीक का वाहक नहीं बन पाया जबकि वहाँ का फुटबॉल 'नब्बे मिनट के राष्ट्रवाद' में परिवर्तित होता चला गया। इंग्लैड और आयरलैंड के बीच हुए फुटबॉल के निर्मम मैच बिना गोलीबारी के युद्ध ही होते रहे हैं। फुटबॉल के साथ इस बहस में क्रिकेट उस समय हार गया जब उसने एकदिवसीय मैचों की विश्व प्रतियोगिता आयोजित करने का फ़ैसला किया। एक दिन के क्रिकेट में जीत या हार सौ में से तक़रीबन सौ मौक़ों पर संभावित थी। अनिर्णय के पहलू के तिरोहित होते ही क्रिकेट का यह रूप आधुनिक राष्ट्रवादी मानसिकता के अनुकूल होता चला गया।

एकदिनी क्रिकेट में घटे पैकर प्रकरण ने खेल को राष्ट्रवाद के दायरे से निकालने के बजाय उसे और ज़्यादा राष्ट्रवादी बनाया। राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व की सीमा से निकाल कर खेल को बाज़ार के दायरे में लाने वाले पहले आक्रामक प्रयोग का हश्र यह हुआ कि प्रसारण कंपनियों और क्रिकेटरों को अलग क़िस्म का संदेश मिला। उन्हें पता चला कि राष्ट्र और बाज़ार को अलग-अलग करने से दोनों के साथ-साथ क्रिकेट को भी नुक़सान हो सकता है। हुआ यह था कि ऑस्ट्रेलियाई टीवी टाइकून कैरी पैकर ने वर्ल्ड सीरीज़ कप की शक्ल में एक रंगीन टीवी तमाशे की कल्पना की। दुनिया के बड़े-बड़े खिलाड़ी (भारत को छोड़ कर) पैसे के लालच में अपने-अपने क्रिकेट बोर्डों से बग़ावत करके फ़्लड लाइट्स, सफ़ेद गेंद, काली स्क्रीनों और रंगीन पोशाकों वाली प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए तैयार हो गये। यह क्रिकेट में विक्टोरियाई एमेच्योरिज़्म का अंत था। शुरु में ये प्रतियोगिताएँ काफ़ी लोकप्रिय हुईं लेकिन इनकी व्याख्या केवल तकनीकी कौशल की शब्दावली में ही हो सकती थी। इन प्रतियोगिताओं के पास कोई सामाजिकता नहीं थी। राष्ट्रीय टीमें जब अपने स्थापित खिलाड़ियों से वंचित हो गयीं तो उनमें नये खिलाड़ियों को भर लिया गया। ऐसे ही विकट समय में भारतीय टीम का ऑस्ट्रेलिया दौरा हुआ। ऑस्ट्रेलियाई दर्शकों के सामने अब चुनाव का वक़्त था। एक तरफ़ चैपल बंधुओं, लिली-थॉमसन, लॉयड और रिचर्ड्स जैसे सनसनीख़ेज़ खिलाड़ियों से भरे पैकर के मैच थे और दूसरी तरफ़ पीटर टूही, यॅलप या बॉर्डर जैसे नये खिलाड़ियों का बिशन सिंह बेदी की भारतीय टीम से मुक़ाबला था। ऑस्ट्रेलियाई दर्शकों ने राष्ट्रवाद का साथ दिया। बूढ़े हो चुके बॉब सिंपसन की कप्तानी में उन्होंने राष्ट्रीय टीम को खेलते देखना पसंद किया। यह सभी पक्षों के लिए एक स्पष्ट संदेश था जिसमें भारतीय टीम की उल्लेखनीय भूमिका थी। उस समय तक भले ही क्रिकेट में फुटबॉल की तरह राष्ट्रवादी उत्तेजनाएँ व्यक्त नहीं होती थीं, लेकिन उसे राष्ट्रवाद से अलग करके केवल तकनीकी श्रेष्ठता के दायरे में भी क़ैद नहीं किया जा सकता था।

3.

क्रिकेट: भूमंडलीकरण की सेवा में राष्ट्रवाद

भारत का क्रिकेटीय राष्ट्रवाद 1983 में तरुणाई पर पहुँचा जब भारत ने इंग्लैंड और ऑस्ट्रेलिया को हराते हुए लॉर्ड्स के मैदान पर वेस्ट इंडीज़ को पराजित करके एक दिवसीय विश्व कप जीता। दुनिया के किसी ग़ैर-भारतीय इलाक़े में (वह भी गौरांग महाप्रभुओं की धरती पर, उनके गर्भ-गृह में) विजय के उत्साह में पहली बार तिरंगा फहराया गया। जैसे ही मोहिंदर अमरनाथ ने विपक्ष का आख़िरी विकेट लिया, अनिवासी भारतीयों की भीड़ राष्ट्रीय झंडा ले कर मैदान में घुस आयी और एक समूह के रूप में तेज़ी से इधर-उधर दौड़ने लगी। भारतीय डायस्पोरा की यह पहली राष्ट्रवादी अभिव्यक्ति थी जिसके आधार में गिनाई जा सकने वाली कोई ठोस सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक उपलब्धि नहीं थी, यानी इस अनुभूति की प्रकृति अपरिभाषित लहज़े में सांस्कृतिक ज़्यादा थी। इसके बाद के कई वर्षों में विदेशी मैदानों में अनिवासी भारतीय पूरे उत्साह से भारतीय टीम की जयजयकार करते नज़र आये। चाहे वह ऑस्ट्रेलिया में वर्ल्ड सीरीज़ कप हो या शारजाह के टूर्नामेंट हों। क्रिकेट के समाजशास्त्र में डायस्पोरा का यह हस्तक्षेप अभी तक उपनिवेशवाद विरोधी चरित्र ही लिए हुआ था। ऑस्ट्रेलिया में जब भारतीय और पाकिस्तानी टीम 1985 के विश्व चैंपियनशिप फ़ायनल में पहुँची तो मैच देखने के लिए ऑस्ट्रेलियाई दर्शक काफ़ी कम संख्या में पहुँचे। जो आये भी, वो पोस्टर लिये हुए थे: बस ड्राइवर्स वर्सस ट्रैम कंडक्टर्स। उपमहाद्वीप की दो टीमों की क्रिकेट श्रेष्ठता का जवाब ऑस्ट्रेलियाई दर्शकों ने उनका मज़ाक उड़ा कर दिया। उन दिनों वहाँ भारतीय और पाकिस्तानी आमतौर पर इसी तरह की नौकरियाँ करते नज़र आते थे। उपमहाद्वीपीय डायस्पोरा के इस आचरण की प्रतिक्रिया में ही संभवतः ब्रिटिश टोरी पार्टी के चेयरमैन नार्मन टेबिट ने टिप्पणी की थी कि किसी व्यक्ति के ब्रिटिशपन की असली कसौटी यह है कि वह ब्रिटिश क्रिकेट टीम से मैच के वक़्त उसका पक्ष लेता है या नहीं।

भारत में दिल्ली एशियाड की मेहरबानी से रंगीन टीवी के क़दम पड़ चुके थे। क्रिकेट कमेंटरी सुनने के लिए जो भीड़ कभी छोटे शहरों के चौराहों, रेलवे स्टेशनों और चायघरों पर हुआ करती थी, वह सार्वजनिक टीवी सेट के आसपास होने लगी। कानपुर जैसे उत्तर भारत के पुराने टेस्ट सेंटर की हालत तो उन दिनों यह थी कि जितने लोग ग्रीन पार्क के मैदान में होते थे, उससे ज़्यादा लोग अस्थायी तौर से लगा दिये गये टीवी सेटों के सामने जमे होते थे। लार्ड्स पर विश्व चैंपियन होने के बाद अगला विश्व कप भारतीय उपमहाद्वीप की धरती पर ही हुआ। पाकिस्तान के साथ मिलकर किये गये इस विश्व कप को रिलायंस इंडस्ट्रीज़ ने प्रायोजित किया था जो ख़ुद उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय पूँजीवाद की सबसे ताक़तवर प्रतिनिधि थी। इस समय तक भी क्रिकेटीय राष्ट्रवाद में उग्रता, संकीर्णता और सांप्रदायिकता के पहलू मौजूद नहीं थे। संयोग से तब तक किसी भी विश्व कप में भारत और पाकिस्तान का मुक़ाबला नहीं हुआ था। 1983 में जब कपिल देव की टीम लॉर्ड्स के मैदान पर दो बार के विश्व विजेता वेस्ट इंडीज़ को अपदस्थ करने के लिए जूझ रही थी तो पाकिस्तानी खिलाड़ियों की हमदर्दी भारत के साथ थी। दोनों देश अपने-अपने देशों में एक-एक टेस्ट सीरीज़ जीत चुके थे। टक्कर ज़ोरदार और तनाव भरी थी लेकिन उसका मनोविज्ञान खेल के दायरों से बाहर नहीं निकला था।

यह सीमा टूटी शारजाह के उस मैच में जिसमें जावेद मियाँदाद ने चेतन शर्मा की आख़िरी गेंद पर छक्का मार कर पाकिस्तान को हारता हुआ मैच जिता दिया। इस पराजय को भारतीय क्रिकेट प्रेमी संभवतः आज तक नहीं भूल पाये। प्रभाष जोशी इसे हीनता की ग्रंथि कहते हैं और जब भी किसी काँटे के मैच में भारत पाकिस्तान को हरा देता है तो वे संतोष के साथ लिखते हैं कि हमने बदला ले दिया। बहरहाल, इसी के बाद से भारतीय टीम में किलर इंस्टिंक्ट की कमी की चर्चा होने लगी। इसी के बाद एक नये भारतीय दर्शक का जन्म हुआ जिसके पास तर्क यह था कि भारतीय टीम हार भले ही जाये पर उसे हारते हुए नहीं लगना चाहिए। उसके कंधे नहीं झुकने चाहिए। चेहरे नहीं लटकने चाहिए। उसे हमेशा आक्रामक रहना चाहिए। ऐसे ही भारतीय दर्शक ने कभी ऑस्ट्रेलिया में चैंपियंन ऑव चैपियंस घोषित हो चुके रवि शास्त्री को भारतीय मैदानों पर हूटिंग करके हताश कर दिया था। इस दर्शक की एक ही माँग थीः मारो, मारो, और मारो। टुकटुकाने वाला खिलाड़ी उसे पसंद नहीं था। बदलते ज़माने के साथ मैदान पर नब्बे मिनट के फ़ुटबॉलीय राष्ट्रवाद की तर्ज़ पर रंगे चेहरों वाले, अपनी ही टीम के खिलाड़ियों की पोशाक पहने,

दूरबीन और ऑटोग्राफ़ बुक लिए हुए, अपने-अपने राष्ट्रीय झंडों से लैस और मेक्सिकन वेव्ह बनाते हुए दर्शक छा गये। इन दर्शकों की हिंसा के कगार पर कुलबुलाती प्रवृतियों ने स्टेडियम के जन-स्थान को क्रिकेट का रस लेने के इच्छुक लोगों के लिए असुरक्षित कर दिया। घरेलू महिलाओं के लिए तो टिकट ख़रीद कर मैच देखना मुश्किल हो गया। इन हालात ने टीवी पर मैच के प्रसारण को पहले से कहीं ज़्यादा कामयाब बना दिया। घरों के ड्रॉइंगरूम मिनियेचर मैदानों में तब्दील हो गये। गृहणियों और बच्चों ने ईएसपीएन चैनल पर देखा कि 'क़यामत' आने वाली है, 'बदला' लिया जाने वाला है और उनके प्रिय खिलाड़ी 'सरफ़रोश' में तब्दील हो चुके हैं। ख़ास बात यह है कि क्रिकेट प्रसारण के अंग्रेज़ी संस्करणों में इस तरह का प्रस्तुतीकरण नहीं दिखायी देता था।

टीवी चैनल का यह तर्क उस मानस को फ़ौरन रास आ गया जो अस्सी के दशक से ही छपे हुए शब्द के ज़रिये क्रिकेट खिलाड़ियों को महानायक या राष्ट्रीय नायक की शक्ल में पेश किये जाते देख रहा था। *जनसत्ता* में छपे प्रभाष जोशी के उस लेख को कौन भूल सकता है जो उन्होंने अज़हरुद्दीन द्वारा लगातार तीन शतक मारने पर लिखा था। उसका शीर्षक था, 'अज़हर तेरा नाम रहेगा'। इसमें बताया गया कि अज़हर की नसें फ़ौलाद की हैं और उनमें संकल्प बहता है या कुछ बिजली-सी कड़कती है। इस शीर्षक में मिथक-निर्माण की कोशिशें आराम से पढ़ी जा सकती हैं। जब कपिल देव ने लॉर्ड्स के मैदान पर अपनी टीम को छक्का लगा कर इंग्लैंड को टेस्ट सीरीज़ में हरा दिया तो प्रभाष जोशी ने इस प्रकरण को भी राष्ट्रवाद का पूरा स्पर्श दिया। उनका शीर्षक था, 'लॉर्ड्स पर छक्के के साथ हमारा तिरंगा'।

भारतीय टीम के पक्ष में युद्ध का आह्वान करते-करते प्रभाष जोशी की भाषा में विकट हिंसा आ जाती है। वे लिखते हैं, 'कांबली ने एंब्रोस को छक्का जड़ दिया। जैसे घूँसा मार कर कहा हो — यह ले'। ये तो वेस्ट इंडीज़ के मुक़ाबले एक मैच के बारे में लिखते समय उनके उद्गार हैं। पाकिस्तान के साथ होने वाले मैचों में तो वे ये सीमाएँ भी पार कर जाते हैं और उनका मुख्य लहज़ा 'बदला.... खुंदक.... लहूलुहान.... दचक दिया... रगड़-रगड़ कर मारा' हो जाता है। इस लेख के शुरु में दिया गया उनका उद्धरण तब का है जब भारत ने इंगलैंड में हो रहे पिछले विश्व कप के दौरान प्रतियोगिता से बाहर होते-होते सुपर सिक्स यानी सर्वश्रेष्ठ छः टीमों के दौर में जगह बना ली थी। ज़ाहिर है, भारतीय टीम का फ़ायनल जीतना बाक़ी था। क्रिकेट अगर युद्ध था तो क्या वह युद्ध फ़ायनल में पहुँच कर विश्व कप जीतने का नहीं होना चाहिए था? नहीं, प्रभाष जोशी के लिए यह युद्ध फ़ायनल में पहुँचने से पहले ही जुलाई का पहला हफ़्ता ख़त्म होते-होते घटित हो गया, जब अज़हररुद्दीन की भारतीय टीम को वसीम अक़रम की पाकिस्तानी टीम से टकराना पड़ा। संपादक महोदय ने साफ़ लिखा कि ओल्ड ट्रैफ़र्ड के मैदान में होने वाला यह मुक़ाबला कारगिल की मुठभेड़ जैसा ही है। ऐसी बात नहीं कि अगर उस समय कारगिल प्रकरण गर्म न होता तो इन दो देशों के क्रिकेट मैच को युद्ध के रूप में न देखा जाता। 1996 के विश्व कप के दौरान वे लिख चुके थे कि 'पाकिस्तान के दक्षिण अफ़्रीका से हारने से अपन राहत में हैं'। उन्हें पाकिस्तान की हार का सुख इतना था 'जितना भारत के ऑस्ट्रेलिया के हाथों पिटने का दुख नहीं हुआ था'।

क्रिकेटीय राष्ट्रवाद की प्रधान अभिव्यक्ति पूरे नब्बे के दशक में यही रही। ओल्ड ट्रैफ़र्ड के मैदान पर जैसे-जैसे भारतीय गेंदबाज़ों के सामने पाकिस्तानी विकेट ढहते गये, वैसे-वैसे कारगिल के दुर्गम मोर्चे पर तैनात भारतीय फ़ौजियों ने ख़ुशी में गोलियों की बौछारें कीं। पाकिस्तानी सैनिक उदास हो गये, हालाँकि मैच शुरु होने के पहले पाक सीमा की तरफ़ से होने वाली गोला-बारी में तेज़ी आ गयी थी। कारगिल में तैनात एक भारतीय कर्नल ने कहा, 'ऐसे मौक़े पर थोड़ी-बहुत अनुशासनहीनता चलती है। हमें इतने ज़ोरदार नतीजे की क़तई उम्मीद नहीं थी। यह एक शानदार जीत है और इससे हमें कारगिल में टिके रहने में मदद मिलेगी।' *एशियन एज, पायनियर, इंडियन एक्सप्रेस, हिंदुस्तान टाइम्स* जैसे अंग्रेज़ी के अख़बारों के शीर्षक थेः पाक फ़ॉल्स ऐट इंडिया'ज़ लाइन ऑव कंट्रोल... इंडिया ट्रायंफ़ इन

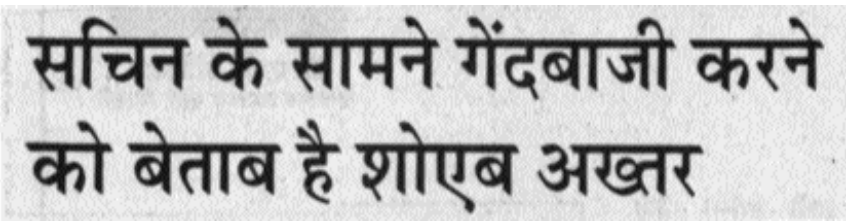
सचिन के सामने गेंदबाजी करने
को बेताब है शोएब अख्तर

गेम ऑव डेथ.... पार्टी अवे, फ़ील द वॉर्म ऑव ग्लो....। हिन्दी पत्रकारिता भी पीछे नहीं रही। उसका नेतृत्व किया *जनसत्ता* के संपादक ने। हिन्दी के पत्रकारों में वे शायद अकेले ही थे जो उस ब्रिटिश मैदान पर मौजूद थे। उन्होंने यह भी देखा ही होगा कि कुछ पाकिस्तानियों ने अपनी टीम के हार जाने की नाराज़गी में भारतीय तिरंगा जला दिया। प्रभाष जोशी ने पाकिस्तानी झंडा तो नहीं जलाया पर उनकी भावना कुछ इस तरह की थी कि अगर अब भारत विश्व कप न जीते तो क्या हुआ। उसने पाकिस्तान को तो हरा ही दिया है। ठीक ऐसी ही भावना वे 1996 में बंगलूर के चिन्नास्वामी स्टेडियम में पाक के साथ हुए क्वार्टर फ़ायनल में भारतीय जीत के समय व्यक्त कर चुके थे। तब उनका मानना था कि भारत ने कई हिसाब चुका दिये हैं। शारजाह की हार (मियाँदाद के छक्के) का बदला ले लिया है। उनकी हीनता की ग्रंथि खुल कर टूट गयी है। इमरान की टीम के ख़िलाफ़ बंगलूर टेस्ट की पराजय भी चुकता कर दी गयी है। प्रभाष जोशी के इस संतोष की एक ख़ास वजह भी थी। इस मैच से एक दिन पहले ही उन्होंने भारतीय खिलाड़ियों की पाकिस्तान के ख़िलाफ़ जीतने की इच्छा शक्ति पर शक किया था। उनकी व्याख्या थी कि पाकिस्तानी खिलाड़ी घबराहट में बड़बोले और आक्रामक हो जाते हैं और भारतीय खिलाड़ियों के कंधे लटक जाते हैं। लेकिन अगले दिन जब उन्होंने देखा कि कैसे 'जडेजा ने वक़ार की गेंदों में मार-मार कर भुस भर दिया है' तो उन्हें लगा कि एकबारगी आक्रामक भारतीय क्रिकेट टीम का सपना सच होता लग रहा है।

इसी महीने के आख़िरी हफ़्ते में *जनसत्ता* में छपे एक लेख में प्रभाष जोशी बंगलूर मैच की अपनी रिपोर्टिंग पर हुई प्रतिक्रियाओं पर टिप्पणी करते नज़र आये। उन्होंने माना कि उनकी रिपोर्टिंग का साया उनकी पंथनिरपेक्ष छवि पर पड़ा है और उनकी आलोचना की गयी है कि उन्होंने हिंदू-मुस्लिम दुश्मनी को हवा दी है, यानी सांप्रदायिकता को अभिव्यक्त किया है। अपनी रिपोर्टिंग के ऐसे असर पर अफ़सोस व्यक्त करने के बाद उन्होंने घोषणा की कि 'वास्तविकता को उधेड़ कर उसका सामना करने के अलावा कोई चारा नहीं है'। सांप्रदायिकता एक भारतीय वास्तविकता है पर क्या इस यथार्थ के सामने समर्पण किया जाना चाहिए? क्या प्रभाष जोशी ने बाबरी मस्जिद प्रकरण पर भी इस यथार्थ को इसी तरह स्वीकार किया था? हिन्दी द्वारा क्रिकेट के वर्णन में यह कोई नया योगदान नहीं था। अंग्रेज़ी की खेल पत्रकारिता ट्राउंस, क्रश, बीट, पल्प, आदि शब्दावली का लंबे अरसे से प्रयोग करती रही है जिनमें हिंसा की प्रतिध्वनियाँ हैं। लेकिन जिस ब्रिटिश पत्रकारिता ने इस लेखन को जन्म दिया है उसमें यह प्रवृत्ति ख़ासतौर पर *डेली मिरर* जैसी *टैबलॉयड* पत्रकारिता के ख़ाने में आती है। *ऑब्ज़र्वर, टाइम्स और गार्जियन* जैसे गंभीर अख़बार इस भाषा का प्रयोग करने में कहीं अधिक संयम बरतना पंसद करते हैं। हम जानते हैं कि *टैबलॉयड* पत्रकारिता से ही पीत या यलो या सस्ती पत्रकारिता का मुहावरा शुरु हुआ है।

प्रभाष जोशी क्रिकेट के कोई मामूली चाहने वाले नहीं हैं। उनका क्रिकेट से नाता उस ज़माने का है जब इंदौर में होलकरों की टीम अपने जौहर दिखाया करती थी। सीके नायडू और मुश्ताक़ अली के बल्ले की करामातें उन्हें आज तक याद हैं और अक्सर उनकी क्रिकेटीय स्मृतियों में अतीत की ये तरंगें उठती रहती हैं। उसूलन वे यक़ीन करते हैं कि क्रिकेट निर्मल आनंद के लिए खेला और देखा जाना चाहिए। टेनिस पर लिखते समय वे वास्तव में यही निर्मल आनंद प्राप्त करते और पाठकों को भी उपलब्ध कराते हैं (उदाहरण के लिए डेविस कप के मैच में रमेश कृष्णन की कलाकारी, यूएस ओपन के फ़ायनल में एडबर्ग और चैंग के लंबे संघर्षपूर्ण मैच और मार्टिना नवरातिलोवा के रिटायर होने पर लिखे गये जज़्बाती लेख)। क्रिकेट में भी वे यह आदर्श स्थिति प्राप्त कर सकते हैं बशर्ते मैच भारत और पाकिस्तान के बीच न हो रहा हो और उनके लिए सबसे अच्छी स्थिति तो यह होती है कि खेलने वाली दोनों टीमों में न भारत की टीम हो और न पाकिस्तान की। पाकिस्तान के साथ अगर श्रीलंका या ऑस्ट्रेलिया की टीम भी खेल रही हो, तो वे फ़ौरन उनके समर्थक हो जाते हैं और वसीम और वक़ार की गेंदों में विपक्षी बल्लेबाज़ों द्वारा भरे जा रहे भुस का हिंसक वर्णन करने से उनकी क़लम परहेज़ नहीं करती। प्रभाष जोशी कोई शिव सेना शैली में पाकिस्तानी क्रिकेट के विरोधी नहीं हैं। शिव सेना द्वारा पिचें खोदने की उन्होंने कड़ी निंदा की है। वे पंथनिरपेक्ष राष्ट्रवाद के समर्थक और संघ परिवार के आलोचक के रूप में भी मशहूर हैं। उन्हें यह भी अच्छा लगता है कि भारतीय टीम में मुसलमान खिलाड़ियों के साथ-साथ अन्य धर्मों के खिलाड़ी भी हैं। क़ायदे से उन्हें उग्र राष्ट्रवाद का विरोधी होना चाहिए। राजनीति और समाजनीति के सिलसिले में वे ऐसे दिखते भी हैं, लेकिन पाकिस्तान और क्रिकेट का संदर्भ आते ही एक क्रिकेटविज्ञ के रूप में उनके व्यक्तित्व का क्रिकेट-प्रेम स्थगित हो जाता है। वे क्रिकेट के भारतीय इतिहास

से कट जाते हैं और उन्हें सिर्फ़ युद्ध याद रह जाता है। वे किसी पाकिस्तानी खिलाड़ी के क्रिकेट कौशल की ज़रा भी तारीफ़ नहीं करते। उन्हें न तो वसीम की बायें हाथ की तेज़ गेंदबाज़ी में दिलचस्पी है और न ही वक़ार की यॉर्कर गेंदों में। इमरान की कप्तानी की उन्होंने शायद ही कभी खुले दिल और निर्मल हृदय से प्रशंसा की हो। 'महान जुझारू बल्लेबाज़' जावेद मियाँदाद उनकी निगाह में 'दंभ और खोखले गर्व' से भरा हुआ है। खेल के सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से वे अपने पाठकों को उसकी बारीकियों के बारे में शायद ही कभी कुछ बताते हों। वे लगातार सांस्कृतिक उग्रता का आख्यान रचते रहते हैं। जीतने की इच्छा, आक्रामकता और महानायकी उनका प्रिय विषय है। नायडू उनके पहले महानायक थे, फिर उन्हें गावस्कर में महानायकी दिखी, कपिल देव में मिली, आजकल उनके महानायक सचिन तेंदुलकर हैं। सचिन की विफलताओं की वे कम से कम चर्चा करते हैं। उन्हें आज तक नहीं दिखा कि टेस्ट मैचों की दूसरी पारी में उनके महानायक का औसत दस से भी कम है और इसीलिये वह अक्सर न अपनी टीम को जिता पाता है और न ही मैच ड्रॉ करा पाता है। उपमहाद्वीप से बाहर होने वाली एक दिवसीय प्रतियोगिताओं में उनका यह महानायक अक्सर फ़ायनल मैचों में नाकाम हो जाता है। सचिन की महानायकी को अपना स्पर्श देने के चक्कर में प्रभाष जोशी ब्रायन लारा से निजी मुलाकात से बचते हैं और अपने लेख में स्वीकार करते हैं कि ऐसा करते समय उनके मन में यह बात भी थी कि लारा दुनिया के सर्वश्रेष्ठ कहलाने के मामले में सचिन के प्रतिद्वंद्वी हैं। खेल में राष्ट्रवादी तरफ़दारी के कारण हुआ यह है कि इतना पुराना क्रिकेट प्रेमी इस खेल के परंपराबोध से वंचित हो गया है। उनका इतिहास बोध ज़्यादा से ज़्यादा निजी संस्मरणों की शक्ल में पाठकों के सामने आ पाता है। वे उसका सामान्यीकरण करने में नाकाम रहते हैं। लाला अमरनाथ जैसे इतिहास पुरुष की मृत्यु तक उन्हें उनको श्रद्धांजलि देने के लिए प्रेरित नहीं कर पाती।

क्रिकेट को युद्धप्रिय उग्र राष्ट्रवाद का वाहक बनाने वाली यह हस्ती पश्चिमी वैचारिक साम्राज्यवाद की भी आलोचक है और लोहिया की तर्ज़ पर मानती है कि गाँधी के आश्रम में पश्चिम का अश्वमेधी घोड़ा बँधा हुआ है। वे भूमंडलीकरण और बाज़ार की ताक़तों को अक्सर आड़े हाथों लेते रहते हैं। बाज़ार का क्रिकेटीय संदर्भ भी उनकी निगाहों से ओझल नहीं है और वे खेल पर टीवी और विज्ञापन के वर्चस्व का अफ़सोस करते हुए सवाल उठाते हैं कि क्रिकेट बाज़ार का यह हमला कैसे बर्दाश्त कर पायेगा। उनकी निगाह में टेस्ट क्रिकेट असल है और एक दिन का क्रिकेट छाया। बाज़ार वाले छाया को पकड़े रहना चाहते हैं और बाज़ार के बोलबाले से खेल की भावना और आत्मा का हनन हो जाता है। पर इस हनन में उनका खुद का योगदान कितना है यह देख पाना उनके लिए तक़रीबन नामुमकिन ही हो गया है। वे समझ पाने में नाकाम हैं कि क्रिकेटीय राष्ट्रवाद के प्रमुख पैरोकार के रूप में उनका लेखन भारत-पाकिस्तान की क्रिकेटीय होड़ की उग्र व्याख्या करके भूमंडलीय पूँजीवाद का ही हित साधन कर रहा है और वे विरोधी होते हुए भी भूमंडलीकरण के औज़ार बने हुए हैं, ठीक उसी तरह जैसे सांप्रदायिकता विरोधी होते हुए भी वे अपने खेल संबंधी लेखन के सांप्रदायिक असर को समझने के लिए तैयार नहीं हैं। यहाँ सांप्रदायिक असर उनके लिए वास्तविकता की पुष्टि बन जाता है। यह क्रिकेटीय राष्ट्रवाद की ताक़त ही है कि वह गाँधीवादी, पंथनिरपेक्ष और भूमंडलीकरण विरोधी प्रभाष जोशी को अपने जाल में फंसा लेता है। वे फटाफट क्रिकेट के उस 'मॉडर्न फ़ैन' की तरह हो जाते हैं जो सिर्फ़ इंस्टैन्ट जीत चाहता है। एक 'फ़ैन' के रूप में प्रभाष जोशी अमेरिकी बेसबॉल के उस फ़ैन से अलग नहीं हैं जो खेल के मैदान में पूरी तरह स्मृतिभ्रंश का शिकार हो जाता है और समझता है कि खेल देखने से उसकी तबीयत पहले से हल्की हो जाती है। रोज़मर्रा के तनावों, संयमों और वैचारिक आग्रहों से परेशान यह फ़ैन पिच पर बल्लेबाज़ी करती हुई अपनी टीम के साथ जुड़ते ही महसूस करता है कि उसका रक्तचाप बेहतर हो गया है।

क्रिकेट के समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि यह खेल अपनी स्वाभाविक संरचना में टीवी के लिए ही बना लगता है। हर ओवर ही नहीं, हर गेंद के बाद क्रिकेट में ऐक्शन कम से कम इतनी देर के लिए तो रुक ही जाता है कि विज्ञापकों के लिए गुंजाइश निकलती रहे। खेल दिन भर या फिर पाँच दिन के लिए चलता है। यानी विज्ञापन का ज़्यादा से ज़्यादा मौक़ा मिलता है। टीवी दर्शक और मैदान में बैठे हुए दर्शक के बीच बुनियादी फ़र्क़ यह होता है कि मैदान वाला दर्शक टीवी दर्शक को नहीं देख सकता लेकिन टीवी दर्शक उसे हँसते, चिल्लाते और उदास होते हुए देख सकता है। स्लो मोशन में रीप्ले देखने के साथ-साथ वह केवल खेल और खिलाड़ी ही नहीं, झंडा

सेहवाग के शतक से भारत संभला

फहराते हुए, रंग-बिरंगे दर्शकों को भी देखता है। इस अंतर को स्टेडियम में बैठा दर्शक जानता है कि टीवी का कैमरा उसे भी दिखा रहा है इसलिए उसकी व्यवहार-शैली सायास और असामान्य होती है। वह अपनी वफ़ादारियों, नफ़रतों, ग़म और खुशी को बढ़-चढ़ कर शिद्दत के साथ ज़ाहिर करता है। इस तरह टीवी स्क्रीन पर बनने वाला समूचा दृश्य एक अलग तरह के सामाजिक-राजनीतिक संदेश के साथ घरों के बैठकख़ानों में पहुँचता है। जो खिलाड़ी खेल रहे होते हैं, वही विज्ञापनों में भी मौजूद होते हैं। लोकप्रियता में वे लगभग फ़िल्म स्टारों जैसी हैसियत प्राप्त कर चुके हैं। युवा मानस में वे देवता जैसे हैं। भारतीय और हिंदू संदर्भों में यह विशेषता उस समय और बढ़ जाती है जब हम दैनंदिन जीवन में दर्शन के धार्मिक महत्त्व पर विचार करते हैं। टीवी पर दिखने वाले ये खिलाड़ी-देवता पुराण की पोथी में बंद देवताओं से भी ज़्यादा प्रभावी हैं। वे उन कामनाओं को साकार करने की उम्मीद बँधाते हैं जो मन के गहरे अतल में छिपी बैठी होती हैं। पीठ के दर्द से परेशान हो कर क्रिकेट से कुछ दिनों तक दूर रहने वाले सचिन के लिए उनके आराधक मनौती मनाते हैं कि वह आये और बॉलरों के पीट-पीट कर धुर्रे उड़ा दे। बाज़ार के रणनीतिकारों को और क्या चाहिए!

क्रिकेट से जुड़ी उपभोक्ता क्रांति के ब्रिटिश और भारतीय संदर्भ को भी एक ही पलड़े में रख कर नहीं देखा जाना चाहिए। इंग्लैंड में क्रिकेट को एक उदास परंपरावाद के चश्मे से देखा जाता है। इसलिए वहाँ बैंक और बीमा कंपनियाँ उसकी प्रायोजक हैं। पर भारत में विज्ञापकों के लिए क्रिकेट सेक्सी और ट्रेंडी है इसलिए यहाँ उसे कार, मोटरसाइकिल, सिगरेट और शीतल पेय बनाने वाली कंपनियाँ प्रायोजित करती हैं। वर्ल्ड टेल के भारतीय संचालक मार्क मस्करनहैस का मानना था कि खेल के प्रसारण की रणनीति देशों के हिसाब से अलग-अलग बनायी जाती है यानी जो भारत में चल सकता है वह इंग्लैंड में नहीं चल सकता। टीवी कंपनियाँ जानती हैं कि मैच किसी भी रफ़्तार से चल रहा हो, वे दर्शकों के एक हिस्से पर कैमरा केंद्रित करके और अंपायर के किसी विवादास्पद फ़ैसले का रिप्ले बार-बार दिखा कर कम से कम ड्राइंग रूम में तो मैच हिट करवा ही सकती हैं। क्रिकेट का टीवी प्रसारण भारतीय दर्शकों को खिलाड़ियों के वे रूप दिखाता है जिनकी वे रेडियो कमेंटरी के ज़रिये कल्पना भी नहीं कर सकते थे। अस्सी के दशक से पहले की रेडियो कमेंटरी और अख़बारी लेखन भारतीय खिलाड़ियों साथ-साथ विदेशी खिलाड़ियों को भी महिमामंडित कर देता था। लेकिन टीवी ओवर-दर-ओवर खेल के ज़रिये ही नहीं, ओवरों के अंतराल में दिखाये गये विज्ञापनों के ज़रिये भी भारतीय खिलाड़ियों के क़द को इतना बढ़ा देता है कि विदेशी खिलाड़ी अपना प्रभामंडल खो देते हैं। पिछले ऑस्ट्रेलियाई दौरे के वक़्त कुछ विदेशी खिलाड़ियों को भी विज्ञापनों में मॉडल की तरह इस्तेमाल करने की कोशिश की गयी थी, लेकन उनके अभारतीय चेहरे और ग़ैरहिंदी लहज़े की व्यावसायिक सीमाएँ अपने-आप में साफ़ थीं। भारतीय खिलाड़ी विज्ञापन के अंतरालों में बल्लेबाज़ी और गेंदबाज़ी के जौहर नहीं दिखाते बल्कि वे जलते हुए टायरों के ऊपर से छलाँगें भरते हुए गेंद रोकते हुए दिखाये जाते हैं। वे विपक्षी बल्लेबाज़ों पर आग की लपटें छोड़ती हुई गेंदें फेंकते हैं। वे ऐसे गेंदबाज़ों के सामने बल्लेबाज़ी करते हुए दिखते हैं जो गेंद फेंकने के बजाय मशीनगनों से गोलियाँ चला रहे हैं। क्रिकेट का यह विज्ञापनीय मॉडल सिर्फ़ खिलाड़ी ही नहीं रह जाता वह योद्धा में बदल जाता है।

युद्ध और योद्धा की महिमा से मंडित हो जाने के बाद खिलाड़ी की समस्या यह हो जाती है कि हारते हुए दिखने पर उसे दर्शकों की नाराज़गी का सामना करना पड़ता है। कोलकाता में भारत और श्रीलंका के बीच हुए विश्व कप सेमीफ़ायनल में दर्शकों का व्यवहार इसका प्रमाण है। लेकिन उस अत्यंत भद्दे दृश्य से भी प्रसारण कंपनियाँ हतोत्साहित नहीं हुईं। दरअसल, टीवी ने विजय और आक्रामकता के लिए छटपटाते क्रिकेटीय राष्ट्रवाद को मुनाफ़े के लिए भूखे कॉरपोरेट क्षेत्र के हाथों में रख दिया है। अमेरिका में जो व्यावसायिक हैसियत बास्केटबॉल की और युरोप में जो स्थिति फ़ुटबॉल की है, भारत में टीवी प्रसारण व्यवसाय के लिए क्रिकेट की है। यहाँ टीवी प्रसारण के अधिकार करोड़ों रुपयों में बेचे जाते हैं। स्पोर्ट्स मार्केटिंग की दुनिया के सबसे बड़े व्यावसायिक समूह इंटरनैशनल

मैनेजमेंट ग्रुप (आईएमजी) के सामने समस्या यह थी कि कोलकाता की घटना और शिव सेना जैसे उग्रराष्ट्रवादी दल द्वारा पाकिस्तान को भारत की धरती पर न खेलने देने की ज़िद के बाद भी उपमहाद्वीप की क्रिकेट शक्तियों की मुठभेड़ें कैसे करायी जायें। आईएमजी के कर्ताधर्ता मार्क मेककॉरमैक (विश्व की सबसे ज़्यादा बिकने वाली स्पोर्ट्स पत्रिका *स्पोर्ट्स इलस्ट्रेटेड* के अनुसार खेल दुनिया के सबसे ताक़तवर आदमी) ने इसके लिए एक नया तरीक़ा खोज निकाला। विश्व कप के बाद एक प्रेस सम्मेलन करके उन्होंने ऐलान किया कि दोनों देशों के बीच कनाडा में एक सालाना फ्रेंडशिप कप आयोजित किया जायेगा। भारतीय और पाकिस्तानी क्रिकेट अधिकारियों के बीच घिरे बैठे मेककॉरमैक ने दावा किया कि उत्तरी अमेरिका के निवासियों के दिल में क्रिकेट बहुत बड़ी जगह बना लेगा। प्रेस कॉन्फ्रेंस के बाद आईएमजी के एक अधिकारी ने असली बात कही कि असली बाज़ार तो दक्षिण एशिया में है और इसके दोहन की तो अब शुरुआत हुई है। यही वास्तविकता थी। कनाडा के टोरंटों में सुबह साढ़े नौ बजे मैच शुरु होने थे। उस वक़्त भारत में शाम के छः बजे जो मध्य और उच्च-मध्यवर्गीय टीवी दर्शक दफ़्तर और दुकानों से आकर ख़ाली बैठे होते हैं उनकी शाम को क्रिकेटमय करने का इंतज़ाम था यह। कनाडा का भारतीय और पाकिस्तानी डायस्पोरा भी मैच देख ले तो वह बोनस हो गया। आईएमजी ने इस प्रतियोगिता को अपनी देखरेख में कराने का निर्णय किया। भारत और पाकिस्तान की युद्धोन्माद से भरी हुई टक्कर से ज़्यादा टीवी दर्शक आईएमजी को दक्षिण एशिया में क्रिकेट को छोड़ कर किसी और बहाने नहीं मिल सकते थे।

4.

खेलों का निर्मल आनंद बनाम क्रिकेटीय राष्ट्रीयता की रचना

ज़ाहिर है कि पाकिस्तान से दुश्मनी पर आधारित उग्रराष्ट्रवाद ने क्रिकेट को भारतीय अस्मिता की कुछ लोकप्रिय परिभाषाओं में से एक बना दिया है। फ़िलहाल नियंत्रण रेखा पर तैनात जवान के बाद अगर कोई चीज़ भारतीयों को राष्ट्रीय और देशभक्तिपूर्ण लगती है तो वह क्रिकेट के मैदान में पाकिस्तान को हराते हुए भारतीय खिलाड़ी ही लगते हैं। सीमा के उस तरफ़ भी ऐसा ही माहौल है। पाकिस्तानियों को लगता है कि वे अपने कहीं ज़्यादा ताक़तवर पड़ोसी को जंग के मैदान में तो कभी हरा नहीं सकते पर क्रिकेट के मैच में उन्हें यह मौक़ा मिल सकता है। इस तरह वे भी अपनी भारत विरोधी उग्रराष्ट्रवादी कामनाओं की पूर्ति कर लेते हैं। पाकिस्तान की सामरिक कमज़ोरियों को देखते हुए क्रिकेट पर उसके भरोसे का एक तर्क बनता है। एक राष्ट्र के तौर पर उसे पहचान की तलाश भी है जो उसे भारत को ही नहीं, दुनिया की दूसरी महत्त्वपूर्ण क्रिकेट टीमों को हरा कर मिल सकती है। लेकिन भारत के पास तो एक राष्ट्र के तौर पर पहले से ही एक सुपरिभाषित पहचान है, जिस पर सभी भारतीय गर्व भी करते हैं। फिर उसके राष्ट्रवाद को क्रिकेट की बैसाखी की क्या ज़रूरत होनी चाहिए? वह उस शक्तिशाली सिंह की तरह आचरण क्यों नहीं कर सकता जिसे अपने ऊपर उछल-कूद मचाने वाले चूहों की कोई चिंता नहीं होती? पर यथार्थ यह है कि यह मुहावरा राष्ट्रवाद के संदर्भ में काम नहीं करता क्योंकि राष्ट्र की ताक़त सिर्फ़ हथियारों से तय नहीं होती। खेल-कूद का सांस्कृतिक मैदान भी उसका एक पैमाना होता है। दुनिया में महाशक्तियाँ स्टेडियमों में लड़े जाने वाले युद्धों को भी जीत लेना चाहती हैं।

एक ताक़तवर राष्ट्र और कमज़ोर पड़ोसी का रिश्ता राजस्थान में प्रचलित बूँदी के क़िले की लड़ाई की दिलचस्प कहानी से समझा जा सकता है। एक राणा ने बूँदी का दुर्ग जीतने का प्रण किया लेकिन काफ़ी कोशिशें करने के बाद भी वह क़िला दुर्जेय बना रहा। सलाहकारों की तरक़ीब के मुताबिक़ उसने क़िले की एक छोटी सी अनुकृति बनवायी ताकि उस पर चढ़ाई करके अपना हठ पूरा कर सके। राणा के आक्रमणों से क़िले की सफलतापूर्वक रक्षा करने वालों को जब पता चला तो उन्होंने फ़ौज ले कर नक़ली क़िले की हिफ़ाज़त के लिए प्रस्थान कर दिया। विजय का जो खेल प्रतीकात्मक रूप से बिना किसी हिंसा के थोड़ी देर में ही ख़त्म हो जाने वाला था, एक वास्तविक रक्तरंजित युद्ध में बदल गया। लाशों के अंबार लग गये। असली क़िला अपनी जगह खड़ा रहा और हार-जीत का फ़ैसला प्रतीकात्मक किले की लड़ाई में हुआ। क्रिकेटीय राष्ट्रवाद पर यह रूपक एकदम फ़िट बैठता है। भारतीय राष्ट्रवाद पाकिस्तान को राष्ट्रवाद की प्रतीकात्मक लड़ाई भी जीतने से वंचित कर देना चाहता है।

अगर राष्ट्रवाद की ऐतिहासिक प्रवृत्तियों पर नज़र दौड़ाई जाये तो मानना पड़ेगा कि उसकी संरचना में प्रतीकों का केंद्रीय महत्त्व है और जैसे ही राष्ट्रवाद विकास, प्रगति और सीमाबद्धता के ठोस दायरों को लाँघता है, हवाई प्रतीक उसकी जगह ले लेते हैं। सवाल यह है कि हमारे राष्ट्रीय समुदाय की रचना-प्रक्रिया में क्रिकेट जैसे प्रतीक की क्या भूमिका हो सकती है?

खेलों और अस्मिताओं के अंतर्संबंध की गहराइयों में जाने वालों की सिफ़ारिश के अनुसार हमें इस बारे में ज़्यादा चिंतित नहीं होना चाहिए क्योंकि खेल के आधार पर बनने वाली अस्मिता ठोस नहीं होती। उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध होती है क्योंकि वह जीतने पर कुछ ज़्यादा ही निर्भर करती है और खेल में, ख़ासकर क्रिकेट में सदैव जीतना संभव नहीं होता। यह एक क्षणजीवी अस्मिता है जो खेल के मैदान पर संघर्ष और टकराव के लम्हे के निकल जाने के बाद तिरोहित हो जाती है। इतिहासशास्त्री रिचर्ड सी. क्रेप्यू का यह निष्कर्ष विचारणीय है लेकिन इसे राष्ट्रवादी अस्मिता के बरक्स रखते ही तस्वीर बदल जाती है। किसी स्पोर्ट्स क्लब के प्रति वफ़ादारियों के आसपास बनी अस्मिता और किसी ख़ास खिलाड़ी के महानायकत्व से जुड़ने के कारण बनी अस्मिता बुनियादी तौर पर अराजनीतिक होती है। उसकी तुलना खेलों के आधार पर बनी राष्ट्रीय अस्मिता से नहीं की जा सकती। खेल-आधारित राष्ट्रीय अस्मिता अविकसित ही नहीं, विकसित देशों को भी सामूहिकता के बोध से आवेशित करने की भूमिका निभाती है। उसके ज़रिये विशिष्ट राजनीतिक उद्देश्य पूरे करने की कोशिश की जा सकती है। अमेरिका और सोवियत संघ के बीच होने वाले आइस हॉकी के मैच शीतयुद्धकालीन राजनीति के अध्याय की तरह पढ़े जा सकते हैं। बोरिस स्पास्की और बॉबी फ़िशर के बीच हुई शतरंज की चैंपियनशिप और उसके बाद कारपोव और कोर्चनॉय के बीच हुई बाज़ियों का प्रकट राजनीतिक आख्यान यही था। इसी तर्ज़ पर भारत और पाकिस्तान के बीच होने वाली क्रिकेट की राजनीतिक शक्ल पहचानी जानी चाहिए। इन मैचों की उत्तेजना क्षण से आगे जाती है, कभी तिरोहित नहीं होती और दो टूर्नामेंटों के अंतराल में अवचेतन को मथती रहती है। अख़बारी लेखन हर नये मैच की पूर्व संध्या पर किसी पुरानी अवमानना की याद दिलाता है, राष्ट्रीय चरित्र का प्रश्न उठाता है और आह्वान करता है कि इस बार तो बदला ले ही लेना है। टीवी में बार-बार दिखाये जाने वाले तनाव के उन विगत क्षणों के ज़रिये सुनिश्चित कर लिया जाता है कि टीआरपी रेटिंग किसी तरह न गिर पाये। अक्सर 'कर्टेन रेज़र' मैदान में होने वाली होड़ से भी ज़्यादा भड़काऊ होता है।

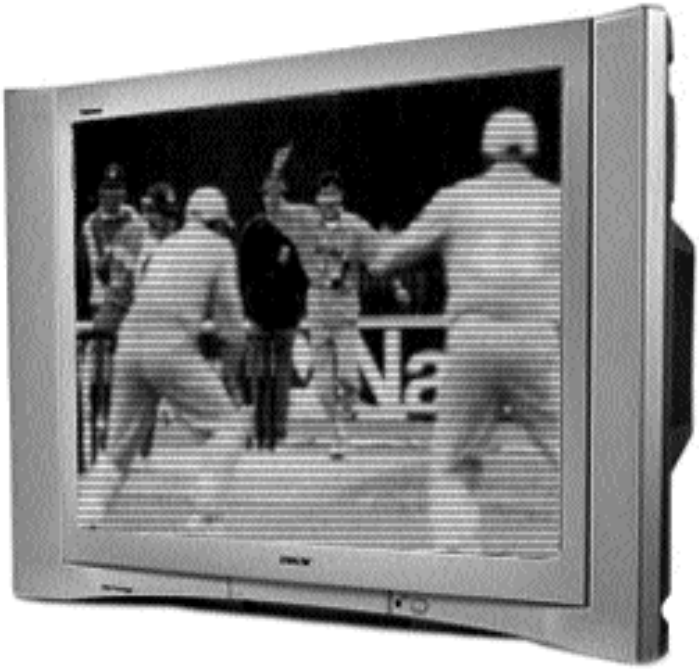

तेंदुलकर का शानदार शतक, भारत मजबूत

अलग-अलग देश-काल में खेलों का राष्ट्रवाद भिन्न-भिन्न असर डाल सकता है। आर्जेंटीना और इंग्लैंड के बीच होने वाले फुटबॉल मैचों में फ़ॉकलैंड युद्ध की पटकथा दोहरायी जाती है और ईरान-इराक के मैचों में खाड़ी युद्ध की प्रतिध्वनियाँ सुनायी पड़ती रही हैं। भारत और पाकिस्तान का क्रिकेट संदर्भ इन उदाहरणों से परे जा कर एक अधिक वृहत्तर ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संदर्भ की ओर ध्यान खींचता है। पाकिस्तान के मुक़ाबले जीतने और हारने का मतलब अक्सर बूँदी के किले के लिए हुए प्रतीकात्मक युद्ध तक ही सीमित नहीं होता। उसमें भारतीय चरित्र और स्वभाव की वे व्याख्याएं भी शामिल रहती हैं जो उन्नीसवीं सदी से ही भारतीयों (यानी हिंदू) में ऐतिहासिकता, आक्रामकता, प्रतिहिंसा, दृढ़निश्चय, मर्दानगी और सामूहिकता की कमी बताती रही हैं। हम जानते हैं कि संघ परिवार का सांस्कृतिक राष्ट्रवाद इसी भित्ति पर टिका हुआ है। इसके जवाब में उदारवादी विमर्श (इसे गाँधीवादी और लोहियावादी भी कह सकते हैं) भारतीय चरित्र को परस्पर साहिष्णुता, स्वाभाविक बहुलता, बहुसांस्कृतिकता, सर्वधर्मसमभाव, सभ्यतामूलक समावेशन और वसुधैव कुटुंबकम के बोध से संपन्न बताता है। क्रिकेट पर होने वाले लेखन के अनुसार भारतीय खिलाड़ी पाकिस्तान के मुक़ाबले हीनता की मनोग्रंथि के शिकार है। उनमें पाकिस्तानियों का बड़बोलापन और बदतमीज़ी नहीं है। उनमें जीतने की इच्छा का ज्वालामुखी नहीं खदबदा रहा है। भारतीय खिलाड़ी अपनी हार पर उतना बुरा नहीं मानता, जितना अन्य देशों के खिलाड़ी मानते हैं। टीवी इस व्याख्या में कुछ नये दृश्य और बिंब जोड़ देता है। वह हार जाने के बाद ड्रेसिंग रूम में उदास बैठे हुए भारतीय खिलाड़ियों को दिखाता है। साथ में की गयी टिप्पणी का तात्पर्य यह होता है कि अब भारतीय खिलाड़ी हार से ज़्यादा प्रभावित होने लगे हैं जबकि पहले ऐसा नहीं था और हार जाने के बावजूद वे आपस में चुहलबाज़ी करते रहते थे।

आशीष नंदी भले ही क्रिकेट को अर्धनारीश्वर प्रवृत्तियों वाले खेल के रूप में (जिसमें बल्ला मर्द की और गेंद औरत की भूमिका निभाती है) अर्थात भारतीय स्वभाव के ज़्यादा नज़दीक खेल के रूप में व्याख्यायित करते रहें, पर खिलाड़ियों के पूर्ण पुरुष बनने पर भी हिन्दी लेखन ख़ासा चिंतित है। वह सचिन तेंदुलकर के विवाह के मौक़े पर उम्मीद जताता है कि आज वह पूर्ण पुरुष बन जायेगा। पुरुषत्व की दूसरी भूमिका परिवार के मुखिया की होती है और हिन्दी लेखन को इस मामले में अज़हरुद्दीन और संदीप पाटिल जैसे खिलाड़ियों के आचरण पर आपत्ति है। आख़िर इन खिलाड़ियों ने 'परिवार तोड़ा, तलाक़ लिया, खेल डुबाया, देश डुबाया'।

ज़ाहिर है कि हिन्दी के क्रिकेट लेखन और टीवी प्रसार ने इस खेल को निर्मल आनंद का स्रोत नहीं रहने दिया है। खेल अब निजी धरातल पर सांस्कृतिक और दैहिक स्वैरकल्पनाओं की फ़सल नहीं उगाता। अगर यह कहीं संभव रह गया है तो सिर्फ़ कविता की दुनिया में हीः

तभी दूसरे छोर से प्रकट होता है वह
अश्वारोही जैसा तेज़ फिर भी मानो चाँद पर चलता हुआ
काल सी पोशाक में जैसे चोगा उड़ रहा हो पीछे
फेंकता है वह गेंद सिर झटक कर
उसका पंजा झलकता है एक पल के लिए
कनपटी और जबड़े की रेखाएँ उभरती हैं
आँखें धसीं हुई इसलिए सिर्फ़ काले विवर दिखते हैं
उसके दाँत चमके थे एक बार देखा हुआ सा लगता है फिर भी
कौन है पोशीदा वह जिसका मुक़ाबला मैंने पहले कभी नहीं किया।

.....

फिर अंधेरे में ही उसके काले नक़्श पहचान कर कहता हूँ
वेल बोल्ड सर
पिच मैदान बुझी बत्तियाँ अँधेरा स्टेडियम
सब जैसे नीचे होते जाते हैं तब तलक
फिर वह गेंद फेंकता रहता है मेरे हाथों में और मैं वापस उसे
जब हम ओझल होते चलते हैं
कहीं और किसी अगले दौर के एकल खेल के लिए

आभार और संदर्भः

हालाँकि यह लेख लिखने की योजना बहुत दिनों से थी लेकिन इसे लिखवाने का फ़ौरी श्रेय रविकांत को जाता है जिन्होंने समय सीमा निर्धारित करके मुझे लिखने के लिए मजबूर किया। सामग्री जुटाने में कई मित्रों और परिचितों ने मदद की। मैं उन सबका शुक्रगुज़ार हूँ। क्रिकेट में राष्ट्रवाद और भूमंडलीकरण की ताक़तों द्वारा उसके दोहन में हिन्दी पत्रकारिता की भूमिका का परिप्रेक्ष्य विकसित करने में माइक मार्क्यूजी, शारदा उग्र, बोड़िया मजूमदार, सुभयु बनर्जी, राजगोपाल अभयनायके, शर्मिला टैगोर, आई.एस. बिंद्रा, क्रोकर स्नो जूनियर, अमृत माथुर, कैथरीन ज़ुन, स्टीफन विसिंक, हर्ष भोगले, फ्रांकोइ गोतिये, संदीप बामज़ई, रामचंद्र गुहा, उमर कुरैशी, साईं सुरेश शिवस्वामी और चंदन मित्रा के लेखों और टिप्पणियों से काफ़ी मदद मिली। लेख के विश्लेषण और तात्पर्यों की ज़िम्मेदारी सिर्फ़ मेरी है। पुस्तकीय स्रोत इस प्रकार हैंः

1. प्रभाष जोशी का समूचा खेल संबंधी लेखन इंडियन एक्सप्रेस समूह के हिन्दी दैनिक *जनसत्ता* में प्रकाशित हुआ है। खेलों पर उनके तीन लेख उनकी रचनाओं के संकलन *मसि कागद* में भी प्रकाशित हुए हैं। यह किताब प्रभात प्रकाशन, दिल्ली ने 1990 में छापी थी.
2. विष्णु खरे, *सब की आवाज़ के पर्दे में* (कविता संकलन), राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1994.
3. आशीष नंदी, *द ताओ ऑव क्रिकेटः ऑन गेम्स ऑव डेस्टिनी एंड डेस्टिनी ऑव गेम्स,* वाइकिंग, 1989.
4. सी.एल.आर. जेम्स, *बियॉन्ड द बाउंडरी,* डरहम, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस, 1993.
5. एड्रियन बियर्ड, द *लैंग्वेज ऑव स्पोर्ट्स, इंटरटेक्स्ट सीरीज़,* रटलेज, न्यूयार्क, 1998.
6. अर्जुन अप्पादुरई, *मॉडर्निटी ऐट लार्जः कल्चरल डाइमेशंस ऑव ग्लोबलाइज़ेशन,* यूनिवर्सिटी ऑव मिनेसोटा प्रेस, चौथा मुद्रण, 1998.